प्रो. कृष्ण कुमार से बातचीत

प्रो. कृष्ण कुमार के साथ हिमांशु, जितेन्द्र एवं विश्वंभर की बातचीत

प्रश्नः आपने अपने निबंध 'आजाद बच्चे फिर जन्म लेंगे' में 'बालक' और 'बाल सखा' आदि पत्रिकाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व तीसरे और चौथे दशक के बाल साहित्य में अकेले, अडिग और आत्मविश्वासी बच्चों का चित्रण मिलता था। आपने 'महके सारी गली गली' में भी इस बात को फिर से रेखांकित किया है कि तीसरे चौथे दशक के बाल साहित्य में जीवन स्पंदन उस दौर के साहित्य की विशेषता थी। प्रेमचन्द की 'ईदगाह' और सुदर्शन की 'सबसे अच्छा बस्ता' के माध्यम से आपने बताया है कि उस दौर के बाल चरित्र बालकोचित भी थे और विवेकवान भी। स्वतन्त्रता के बाद जब पूंजीवादी संस्थान प्रकाशन से जुड़े तो मूलभूत परिवर्तन आया और कहानियों में बच्चों के चरित्र पूरी तरह बदल गए। ये तो सब एक पक्ष हुआ। दूसरी ओर आपने ये भी लिखा है एक से अधिक जगह कि, सन 1932 में आचार्य शुक्ल द्वारा संपादित हिंदी की पाठ्यपुस्तक ने हिंदी को एक गैर-मुस्लिम अस्मिता से जोड़ा और उपदेशपरकता पाठ्यपुस्तकों का प्रमुख बिंदु बन गई और पाठ्यपुस्तकें नैतिक पुनरुत्थानवादी चेतना के प्रसार का माध्यम बन गईं ... तो इन दोनों बातों में द्वैत है। इसका कारण स्पष्ट करेंगे ?

उत्तरः देखिए द्वैत इसलिए नहीं है क्योंकि एक बात है साहित्य के बारे में और दूसरी बात है शिक्षा के बारे में। शिक्षा औपनिवेशिक प्रशासन की नीतियों, औपनिवेशिक परिवेश और शिक्षा के क्षेत्र में चली आ रही, उपनिवेशकाल के बहुत पहले से चली आ रही, परंपराओं से प्रभावित हुई। साहित्य तो हमेशा से एक, आप कह सकते हैं, प्रतिस्पर्धी स्वर होता है समाज का, उसके ऊपर प्रशासनिक ढांचों और संस्थाई ढांचों का, संस्थाई परंपराओं का असर नहीं पड़ता है, इसलिए उसको आप साहित्य कहते हैं। इसलिए तो वो एक स्पंदन का प्रतीक होता है, किसी हद तक विरोध का प्रतीक होता है। किसी भी युग में साहित्य को अगर आप इस दृष्टिकोण से देखें तो आप पाएंगे कि जो संस्था में नहीं हो सकता है वही तो साहित्य में होता है। अब आजादी के संदर्भ में विशेष रूप से जो पूरे भारत में चेतना जागी खासकर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से, जिसने धीरे-धीरे एक परिधि बढ़ाई, उस चेतना का प्रतिबिंबन इस रूप में भी होना शुरू हुआ कि हमारे समाज में बच्चों के लिए अलग से कुछ रचनाकार लिखने की चुनौती लेकर सामने आए। लेकिन शिक्षा का जो मामला है वह तो वही चल रहा था जो कि औपनिवेशिक ढांचे में चल रहा था जिसकी चर्चा मैंने अनेक स्थानों पर की है। और आपको पता ही होगा कि इसके क्या निहितार्थ थे और जिस सरकारी ढांचे में काम करती थी, शिक्षा पद्धति उसी ढंग से काम कर रही थी भले ही 1930 तक आते आते भारतीय भाषाओं का प्रयोग उसमें थोड़ा बहुत बढ़ा। तीस के दशक में इंटरमिडियेट में हिन्दी एक विषय बनी। और इस तरह के सांकेतिक

परिवर्तन हो सकते हैं। लेकिन जहां तक साहित्य का सवाल है उसकी चेतना और उसकी महत्त्वाकांक्षा से आप शिक्षा को न तो समझ सकते हैं न तौल सकते हैं। शिक्षा तो एक औपनिवेशिक द्वीप का एक सरकारी औजार थी। हम जानते ही हैं कि उससे जुड़ी हुई थी। इसलिए इन दो के बीच किसी तरह का अन्तर्विरोध नहीं देखना चाहिए।

प्रश्न: *दोनों किसी बिंदु पर आकर जुड़ भी तो जाते हैं जैसे इंडियन प्रेस की भूमिका थी। इंडियन प्रेस उस जमाने के साहित्य की सबसे प्रमुख प्रकाशन संस्था थी और इंडियन प्रेस ही उस जमाने में पाठ्यपुस्तकों के चयन का सबसे बड़ा निर्धारक थी। ये मैं आप ही के एक लेख के हवाले से बात कर रहा हूं ... तो इंडियन प्रेस साहित्य के मानक भी निर्धारित करने में भूमिका निभा रही थी- या कम से कम इस मायने में भूमिका तो निभा रही थी कि कौन-सी पुस्तकें चयनित हों -*

उत्तर: चयनित होने में नहीं थी उनकी भूमिका ! वो लॉबिंग करते थे अपनी उन किताबों के लिए जो पाठ्यपुस्तकें थीं। अब क्योंकि उस जमाने में इस तरह के आज जैसे हर राज्य में पाठ्यपुस्तक निगम, या हमारी जैसी परिषद है, या एनसीईआरटी है - ऐसी संस्थाएं नहीं थीं। वो ओपन मार्केट था। अलग-अलग प्रकाशक थे जो पुस्तकें छापते थे और वो सरकार पर अपना दबाव डालने की कोशिश करते थे कि उनकी किताब 'लग जाए' जिसको हिंदी में बोलते हैं - लग गई मतलब फिर इसकी लाखों प्रतियों की बिक्री निश्चित होती थी। इंडियन प्रेस अपनी साहित्य की किताबों को स्कूल में प्रवेश नहीं दिलवा सकता था और न ही यह संभव था उस समय; आप सोचें कि 'दूध बताशा' या निरंकार देव सेवक की ये जो किताब है 'दूध जलेबी' या कि उस युग में इंडियन प्रेस द्वारा छापी गई अनेक छोटे बच्चों की किताबें स्कूल में प्रवेश पा जाएं, ये इंडियन प्रेस के लिए भी संभव नहीं था। क्योंकि स्कूल तो एक बनी बनाई पद्धति से बच्चों को पढ़ाने का काम करता था। और वहां इस तरह की हंसी-खुशी की चीजें, या कि जिज्ञासा बढ़ाने वाली चीजें होती तो फिर औपनिवेशिक शिक्षा औपनिवेशिक ही क्यों रहती ? तो इंडियन प्रेस के दो चेहरे आप देख सकते हैं, एक तो पाठ्यपुस्तकीय चेहरा जिसमें उसको सरकारी ढांचे के भीतर अपनी चीज खपानी है। और दूसरा उसका चेहरा है कि वो बाल साहित्य की दिशा में साहित्यकारों की मदद से उपक्रम कर रहा है। इंडियन प्रेस सफल क्यों हुआ बाल साहित्य में, इसका भी यही कारण है, कि इंडियन प्रेस के पास इतनी रकम थी कि वह अच्छे मुद्रण के लिए और पारिश्रमिक देने के लिए, रंगीन छपाई के लिए, पैसा निवेश कर सकता था। यह पैसा कहां से आया? पाठ्यपुस्तकों से ! अन्य जो प्रकाशक बाल साहित्य के थे-ऐसे अनेक थे- उत्तर प्रदेश तो उस समय भरा पड़ा था; संयुक्त प्रांत अच्छे-अच्छे ऐसे छोटे-छोटे प्रेसों से जो कि अच्छा साहित्य निकाल रहे थे, तो वो क्यों मुकाबला नहीं कर पा रहे थे इंडियन प्रेस का इसका भी अध्ययन होना चाहिए । मैंने इसका अध्ययन नहीं किया कि उनकी जो वित्तीय स्थिति थी वो क्या थी ? जैसे शिशु के लिए 'खिलौना' छापने वालों की; वो क्यों उस स्तर का कागज इस्तेमाल नहीं कर पा रहे थे अपने बाल साहित्य में, जैसा कागज इंडियन प्रेस इस्तेमाल करता था। या कवर पेज इनका वैसा क्यों नहीं है इस पर आप जाएंगे तो आप ये जरूर कहीं न कहीं पाएंगे कि इसके पीछे इतना बड़ा निवेश कर सकने की गुंजाइश नहीं थी। यह मैं नहीं कह रहा हूं कि इंडियन प्रेस की सारी कमाई सिर्फ पाठ्यपुस्तकों से ही थी। उसके जो संस्थापक थे उनके और भी निवेश थे, कुछ क्षेत्रों में; जिनकी इकॉनामी पर एक अध्ययन किये जाने की जरूरत है। लेकिन उनकी जो विशेषता है वो यही है कि उन्होंने पाठ्यपुस्तक के अलावा भी एक जरूरत समझी, उस समय के हिन्दी भाषी समाज की। और इसके अनुरूप उन्होंने बाल साहित्य की उस समय की जो एक उभरती हुई चेतना थी उसको जगह देने के लिए एक पत्रिका भी निकाली । इसके अलावा उन्होंने ऐसी किताबें छापीं... उसके अगर आप विज्ञापन देखें 'बाल सखा' में 1925 की 30-35 की तो आप पाएंगे कि जहां बच्चों की 'दूध जलेबी' जैसी किताबों के विज्ञापन हैं, वहां लिखा ही हुआ है कि ये जन्मदिन पर उपहार देने योग्य पुस्तकें हैं। यह नहीं लिखा है कि ये स्कूल में पढ़ने लायक किताबें हैं। या कि स्कूली शिक्षा को ये किताबें एक नई रंगत दे सकती हैं, रौनक दे सकती हैं । ये कोई दावा न कर सकता था न इसका कोई अर्थ था; आज भी नहीं कर पाते हैं, कई किताबें आज उपलब्ध हैं। आप सोचते हैं कि सीबीटी की पुस्तकें कक्षा एक में चल जाएं - संभव ही नहीं है! इतनी अच्छी-अच्छी किताबें हैं सीबीटी की, पर वो इसी तरह हैं कि वार्षिक उत्सव पर हम पुरस्कार के लिए दे देते हैं, जन्म दिन पर दे

देते हैं इत्यादि। लेकिन हम उसको स्कूल के भाषायी शिक्षण को समृद्ध बनाने का माध्यम बनाने में आज भी कठिनाई महसूस करते हैं। हमारी व्यवस्था इसके लिए आज भी तैयार नहीं क्योंकि... देखिए कि पाठ्यपुस्तक तो एक माध्यम है। हमारी नई 2005 की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की जो रूपरेखा है, जो अभी-अभी केब से अनुमोदित हुई है, वो कहती है-अपने पांच सिद्धांतों में से उसका तीसरा सिद्धांत है कि स्कूल की पढ़ाई पाठ्यपुस्तक के पार जाए। और इसको भी आज एक बहुत बड़ा क्रांतिकारी कदम माना जा रहा है। कई लोग तो इसके ऊपर बहुत ही विरोधी टिप्पणी कर रहे हैं। इसका मतलब है कि 2005 में भी हम यह कल्पना नहीं कर पा रहे हैं कि पाठ्यपुस्तक के पार जाने की जरूरत है। पाठ्यपुस्तक तो एक शुरूआत है, एक आधार है। पर आप अन्य तरह का साहित्य कक्षा में लाएं। वो केवल उत्सव के लिए नहीं है या घर में पढ़ने के लिए नहीं है। ये बात आज भी कहते हुए लोगों को क्रांतिकारी लग रही है तो आप सोचिए कि जब 1917 में बाल प्रकाशन शुरू हुआ या इंडियन प्रेस ने जब ये किताबें निकालनी शुरू कीं 1920 के दशक में - 30 तक उनकी लिस्ट बढ़ी- उस समय वो कितना वो अटपटा कदम होगा, स्कूल ने तो कभी सोचा ही नहीं कि इन किताबों का वहां पर कोई महत्त्व है।

प्रश्न: 'जादुई मुखौटे और अन्य खेल' आपका जो निबंध है इसमें आपने बाल साहित्य के माध्यम से दी जा रही राष्ट्रवाद की खुराक पर रोशनी डाली है। आपके अनुसार ये जो 'अद्वैत राष्ट्रवाद' है - आपका यह प्रयोग मुझे बहुत सुंदर लगा -अद्वैत राष्ट्रवाद का ये जो आदर्श है, ये किशोरावस्था तक आते-आते चकनाचूर हो जाता है, जब किशोर अपने समाज में देखता है कि समानांतर अस्मिताएं टकरा रही हैं। इस संदर्भ में इसे स्पष्ट करेंगे कि आप क्या कहना चाहते हैं ? क्या आप राष्ट्रवाद को एक दमनकारी विमर्श मानते हैं जो समानांतर अस्मिताओं को कुचल देता है या कि आप उस विडम्बना को रेखांकित करना चाहते हैं जहां उसे आगे जाकर इस प्रकार का आदर्श रुमानी समाज कहीं नहीं मिलता, जहां उसका राष्ट्रवाद का सपना सच हो सके ?

उत्तर: देखिए इसमें अस्मिताओं का जो एक तरह से खेल है, जो उस लेख में बताया गया है, उसको आप भारत के संविधान के संदर्भ में देखिए। आप संविधान को अगर इस दृष्टि से पढ़ें कि यह अस्मिता के लिए क्या कह रहा है, इस शब्द का इस्तेमाल उसमें न हो, लेकिन आप इस दृष्टिकोण से पढ़ें तो आप पाएंगे कि संविधान की जो अन्तर्रात्मा है वो भारत की बहुवचनीय, बहुलतावादी संस्कृति को स्वीकार करके चलती है। यही संविधान की अंतर्रात्मा है और इसीलिए सामाजिक न्याय, भाईचारा, सह-अस्तित्व, इन तमाम सिद्धांतों को... संविधान इसका प्रक्षेपण करके ही शुरू होता है। भारत को 'एक चालकानुवर्तते' के सिद्धांत से हांका नहीं जा सकता है। एक ऐसा देश यह नहीं हो सकता जिसको एक हंटर से कोई किसी एक दिशा में ले जाए। संविधान हमसे यही कह रहा है, संविधान कह रहा है कि भई यह देश अनेक विश्वासों वाला है, अनेक जीवन पद्धतियों वाला है, अनेक तरह की भाषाओं वाला है, अनेक तरह की संस्कृतियों वाला देश है। और इसकी महानता इसकी एकता, इसकी विविधता में है। ये जो एकता में विविधता का एक नारा-सा बन गया है जिस पर हम विचार ही नहीं करते हैं उसका अर्थ क्या है ? उसका यह अर्थ है कि जब तक भारत की विविधता सुरक्षित है तभी तक उसकी एकता सुरक्षित है। तो इससे हमें संदेश मिलता है कि अस्मिता के मामले में हमको एक बहुस्तरीय व्यक्तित्व की कल्पना करके चलना चाहिए। जिसमें कोई स्तर किसी अन्य स्तर का न विरोधी हो, न उसके ऊपर हावी हो रहा हो। आपकी एक अस्मिता है जो कि आपको किसी क्षेत्र का एक निवासी बनाती है। उस क्षेत्र का अपना एक भूगोल है, अपना एक इतिहास है, उसकी अपनी एक रंगत है, उसकी एक भाषा है, उसकी एक बोली है; इन सभी विशेषताओं से आपके व्यक्तित्व की अलग-अलग अस्मिताओं का निर्माण हो रहा है। आप कहीं मानक भाषा से जुड़ी हुई अस्मिता बनाते हैं, इस समय मैं आपसे बोल रहा हूं, इस समय मेरी वो वाली अस्मिता है जो आप तक पहुंच रही है जिसमें मैंने हिन्दी को इस तरह सीखा है कि वो एक मानक भाषा के रूप में इस्तेमाल की जा सके। पर अगर कोई मेरे क्षेत्र का व्यक्ति यहां आ जाए तो मैं उससे बुंदेली में बोलूंगा, अब मेरी वो वाली अस्मिता उस समय प्रक्षेपित होगी, या जागृत हो जाएगी जो कि मेरे बचपन से जुड़ी हुई है। जो सीखी हुई अस्मिता नहीं है, स्कूल ने मुझे नहीं सिखाई, जो हमारा समाज ही सिखाता है। अब आप आइए अन्य अस्मिताओं की ओर, जैसे कि आप कह सकते हैं कि आज जो प्रांत बने हैं उनकी अस्मिता है। मध्यप्रदेश

है, मध्यप्रदेश अनेक आंचलिक अस्मिताओं का एक समाहित रूप है जिसमें अभी तक तो छत्तीसगढ़ भी शामिल था। लेकिन अब नहीं भी है तो भी आप देखिए कि उसमें कितनी आंचलिक अस्मिताएं हैं, आप राजस्थान में भी देखते होंगे। तो एक राजनैतिक इकाई है, मध्यप्रदेश या आज का राजस्थान, आज का उत्तर प्रदेश, इस इकाई से भी एक अस्मिता बनी कि आप कहां के रहने वाले हैं। लेकिन उससे वो हमारी दूसरी अस्मिता जिसकी चर्चा मैंने पहले की, खंडित नहीं होती और न ही उससे उसका कोई टकराव है, अलग-अलग स्थितियों में है वो, हो सकता है कि कल के दिन आप किसी ऐसी समिति में मनोनीत कर दिए जाएं जहां आप राजस्थान के प्रतिनिधि होंगे। लेकिन हो सकता है कि आप अपनी बिरादरी में किसी ऐसे कार्यक्रम में जाएं जहां पर आप मेवाड़ के रहने वाले होंगे और उन दोनों से अस्मिताओं में कोई टकराव नहीं होगा और उन दोनों अस्मिताओं में आपकी भूमिका भी अलग-अलग रहेगी, लेकिन आपको उनमें कोई कष्ट नहीं होगा। तो अब इन सबसे जो कह सकते हैं कि इस तरह के बहुस्तरीय व्यक्तित्व में अगर आप एक सबसे बड़ा फलक देखें तो वो अस्मिता है जो कि आजादी के आंदोलन से हमको मिली और जिसने हमको भारतीय बनाया। जिस अस्मिता ने कई अन्य छोटे अन्तरों को, अन्ततः जो कि हमारी अस्मिता के अनिवार्य अंग हैं उन अन्तरों को एक तरह से लांघा और एक ऐसे उद्देश्य के लिए हमको इकट्ठा किया जिस उद्देश्य से विश्वस्तर पर हमारी एक सामूहिक अस्मिता बनी। जो अस्मिता हमको एक देश का प्रतिनिधि बनाती है - हम में से हरेक उस अर्थ में देश का एक दूत है; तो जब मैं बात करता हूं आपसे इस बात की कि भई राष्ट्रवाद की अस्मिता क्या है तो उसका अर्थ यह है कि अगर वो संविधान के अनुकूल है, राष्ट्रवाद की ऐसी अस्मिता जो कि संवैधानिक भारत के संविधान की दृष्टि से स्वीकार की जा सके तो वह एक बहुस्तरीय बहुलतावादी अस्मिता ही हो सकती है। जिसमें अन्य अस्मिताओं को न तो कोई धमकी महसूस हो, कि वो कुचल दी जाएंगी, जैसे कि पहले लोग कहते थे कि आप अपने लिए क्यों कहते हैं कि आप बंगाली हैं, आप पहले भारतीय हैं और बाद में बंगाली हैं । यह पहले और बाद का सवाल नहीं है। भारतीय होने का अर्थ ही है कि हम कई अस्मिताओं को साथ लेकर चल रहे हैं। ये ही हमारे देश की विश्व स्तर पर विशेषता है। क्योंकि हमारा देश है ही इस किस्म का। हमें किसी को इसकी सफाई देने की जरूरत नहीं है, कि साहब यह कैसा देश है जहां पर इतनी अधिक अस्मिताएं हैं, यही तो हमारी विशेषता है, और संविधान सिद्ध भी करता है कि इसी विशेषता की वजह से हम जीवित हैं, एक सभ्यता के रूप में इतने समय से और जब-जब हम इस बहुलतावादी दृष्टि से थोड़ा भी अपने मन को हटाते हैं तो चिंतित महसूस करते हैं।

प्रश्नः *मुझे आपके उत्तर को सुनते हुए एक किस्सा याद आया, मैं शिक्षकों के समूह की एक कार्यशाला में बैठा था। वहां पर एक लोकप्रिय नारा ढूंढ़ने के लिए कहा गया, जिससे कि विविधता में एकता की बात ठीक से समझा सकते हैं तो तत्काल एक नारा आया कि 'लहू का रंग एक है अमीर क्या, गरीब क्या' मेरे एक मित्र ने इसे संशोधित किया - ''लहू का रंग एक है, अमीर क्यों, गरीब क्यों ?'' इसमें प्रश्नाकुलता है, मेरा प्रश्न यह है कि विविधता के साथ जो गैर-बराबरी है या जो भेद हैं समाज में; अनेक स्तर में स्तरीयताएं हैं, लिंग की, जाति की इन सब भेदों से बालक को बाल साहित्य में परिचित करवाया जा सकता है ? ये उस पर ज्यादती तो नहीं या इनको जगह मिलनी चाहिए ।*

उत्तरः देखिए यह जो मुद्दा है, ये आपको साहित्यकार पर छोड़ना पड़ेगा। अगर सचमुच आप बाल साहित्य की चर्चा कर रहे हैं तो उसको उस तरह के नियोजन का विषय मत बनाइए जिस तरह आप शिक्षा को बना रहे हैं । क्योंकि तभी तक वह साहित्य है जब तक वह नियोजित नहीं है, आप यहां बैठे हैं ये देश में शिक्षा की नियोजन की संस्था है, इसकी बगल में तो शिक्षा की योजना बनाने वाली संस्था का नाम ही है राष्ट्रीय शैक्षिक प्रशासन और नियोजन - नीपा। बाल साहित्य का नियोजन नहीं किया जा सकता वरना वो साहित्य कैसे बनेगा तो एक साहित्यकार किस प्रकार बच्चे को आकर्षित करने के लिए या खुद बच्चा बन कर कुछ लिखता है, एक बच्चे की दृष्टि से या बच्चे में प्रवेश करके लिखता है, वो क्या सोच कर लिखता है वो इनमें से किस-किस को, किस अस्मिता को किस तरह समाहित कर पाएगा या नहीं कर पाएगा, यह एक तरह से साहित्यकार के साथ ज्यादती करने वाले प्रश्न हैं । आप किसी बड़े-बच्चों को छोड़ दीजिए- क्या किसी बड़ों के कवि से या किसी बड़ों के उपन्यासकार को कह सकते हैं कि भाई साहब आप जरा इस थीम पर कोई उपन्यास लिख दीजिए। आपको कोई अच्छा उपन्यासकार नहीं मिलेगा। भले ही आप

उसको कितना ही पैसा दें। या आप श्रीलाल शुक्ल से जाकर कहें कि क्या आप कोई ऐसा उपन्यास लिख कर दे सकते हैं जहां पर कि ये वाली अस्मिता उभारी गई हो और ये वाली विविधता और आपने कहा न विषमता के बीच अन्तर को स्पष्ट करने वाला उपन्यास लिख दें। श्रीलाल जी कहेंगे, मेरे ख्याल से कि, भई मैं तो उपन्यास लिखता हूं, मैं निमन्त्रण कार्ड तैयार नहीं करता हूं। तो यही चीज आपको बाल साहित्य पर भी लागू करनी है कि बाल साहित्य का रचयिता किस तरह क्या करता है ? उसमें आपकी राजनीति किस हद तक आती है, आपके संवैधानिक उद्देश्य किस हद तक आते हैं, आपके शैक्षिक उद्देश्य किस हद तक आते हैं ? ये तो उसके लिखने के बाद आप जांचिए, आप उस पर टिप्पणी कीजिए।

प्रश्न : मेरे सवाल में शायद 'चाहिए' शब्द से एक निर्देश वाला भाव आ गया था। वो शायद मेरे पूछने में गलती थी। मैं इसे पुनः नियोजित करता हूं। इस प्रश्न को मैं एनसीईआरटी के निर्देशक से नहीं साहित्यकार कृष्ण कुमार से पूछ रहा हूं कि यदि हम विश्लेषण करें, जो हमारा साहित्य है, तो लगातार क्या हम यह नहीं पाते हैं कि बाल साहित्य के जितने भी लेखक हैं, उन्होंने उन्हें हमेशा एक सपनीले संसार में रखा है और उन्हें हमेशा जो एक क्रूर यथार्थ है, उससे अपरिचित रखा है ?

उत्तर: देखिए पहले तो आप अगर अभी तक लिखे गए बाल साहित्य पर बात कर रहे हैं तो वैसे भी यह बात सही नहीं है क्योंकि अनेक बाल साहित्यकारों ने यथार्थ को-कई बार तो यथार्थ को जरूरत से ज्यादा निकट आके जांचने-परखने की कोशिश की है। जैसे सर्वेश्वर जी की कविता 'मंहगू की टाई' ये व्यंग्यकार सर्वेश्वर की कविता है, यह 'बतूता का जूता' के कवि की कविता नहीं है हालांकि इसमें वो आनन्द तो है एक तुक का, एक लय का आनन्द है पर आप देखिए कि 'बतूता का जूता' और 'मंहगू की टाई' के बीच सर्वेश्वर जी में कितना परिवर्तन हुआ है। ऐसा नहीं है कि क्रूर यथार्थ से टकराने वाले लेखक नहीं हुए हैं। सर्वेश्वर जी की तो कई कविताएं और उनके नाटक बच्चों के लिए क्रूर यथार्थ के निकट बच्चों को-बहुत छोटे बच्चों को ले जाने के बारे में हैं। और ऐसे अनेक कवि और लेखक स्वतंत्रता के पहले के युग में भी हुए हैं जिन्होंने ये सब किया। तो ये सैद्धांतिक प्रश्न के तौर पर जब आप उठाते हैं तो मुझे थोड़ी-सी इससे चिन्ता होती है। क्योंकि देखिए स्वप्न देखना और स्वप्न दिखाया जाना यह तो बच्चे का मूलभूत अधिकार है, अगर आप साहित्यकार से यह कहें कि भई आप सपनों का संसार मत रचिए बच्चों के लिए, हमें तो उनको क्रूर यथार्थ के करीब ले जाना है । यह साहित्यकार के साथ तो अन्याय है ही; ये आपकी बच्चों के प्रति भी, एक बहुत वैज्ञानिक दृष्टि से देखें, तो बहुत पिछड़ी हुई दृष्टि का द्योतक होगा क्योंकि हम बच्चे को अगर आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से समझें या प्राचीनकाल से चली आ रही कुछ लोगों में पाई जाने वाली कल्पनाशील दृष्टि से समझें तो आपको यह बुनियादी तौर पर मानना पड़ेगा कि बचपन का अगर कोई एक स्वीकृत अर्थ हो सकता है अनेक-अन्य भेदों और परिभाषाओं के अन्तर के बावजूद तो वो यह अर्थ हो सकता है कि यह जिन्दगी का वो समय है जब आप बगैर सफाई दिए स्वप्न देख सकते हैं। और अगर कोई साहित्यकार आपको स्वप्न दिखाता है तो ये आपकी सेवा कर रहा है। इसके लिए आप उसको दोषी नहीं ठहरा सकते। (ठहाका)

प्रश्न : आपने अभी सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का जिक्र किया। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को मैं पराग के संपादक के रूप में जानता हूं क्योंकि तब मैं पराग का पाठक था। हालांकि वे पराग के संपादक तो बहुत कम समय के लिए रहे। उससे पहले कन्हैया लाल नंदन थे। आपने पराग के बारे में लिखते समय बहुत ही नास्टेलिया के साथ पराग के पूरे दौर को याद किया है आनन्द प्रकाश जैन के संपादन काल में । पराग पत्रिका के हिन्दी बाल साहित्य में योगदान के बारे में कुछ बताएंगे।

उत्तर: देखिए आनन्द प्रकाश जी ने जितने भी थोड़े से वर्ष पराग का संपादन किया वो काफी निराला संपादन था इसलिए क्योंकि उन्होंने एक ऐसे समय में जब कि आजादी के बाद उस तरह की स्वतंत्रता वाली जो चेतना, जिसका जिक्र आपने पहले किया -जो मैंने कई जगह रेखांकित की है - वो समय बीत चुका था। और एक तरह का अवसाद छाने लगा था। हिन्दी क्षेत्र में भी उस अवसाद के अनेक रूप प्रकट होने लगे थे, खासकर हिन्दी भाषा को एक सरकारी शब्दावली में ढालने की कोशिश बहुत आगे बढ़ चुकी थी और उसके असर शिक्षा पर दिखने लगे थे जो आज

तक मौजूद हैं, जिनकी वजह से, हिन्दी क्षेत्र में शिक्षा का जितना अहित हुआ है उतना किसी और भाषा को नहीं सहना पड़ा। 1957-58 में जब आनन्द प्रकाश जैन ने यह पत्रिका टाइम्स ऑफ इण्डिया ग्रुप के लिए शुरू की, उस वक्त के वातावरण को और आजादी के दस साल पूरे हो जाने की स्थिति को ध्यान में रखकर जब आप पराग का पहला अंक देखते हैं तब आप सचमुच चमत्कृत होते हैं कि उन्होंने हिन्दी को एकाएक एक विश्वस्तरीय भाषा के रूप में देखकर, और बगैर किसी परंपरा की परवाह किए एक नई तर्ज का बाल साहित्य देने का स्वप्न देखा। कुछ ही समय में वो एक पूरा उपन्यास लाए जो आज भी हिन्दी का - मैं तो समझता हूं कि हिन्दी के बाल उपन्यास जगत का एक निराला सितारा है और आज तक उसका मुकाबला हम नहीं कर पा रहे हैं -'एक डर पांच निडर' जो दुर्भाग्यवश आज केवल रूसी में उपलब्ध है और बहुत ही सुन्दर चित्रों के साथ क्योंकि हमारी भाषा में उसका वखत नहीं है। बड़ी मुश्किल से अनुशंसा करने पर राजस्थान सरकार ने चूंकि अभी तीन चार साल पहले उसके लिए आदेश दे दिया था पांच हजार प्रतियों का इसलिए आत्माराम ने विशेष रूप से उसका एक संस्करण केवल उसके लिए छापा वरना वो पुस्तक इसी रूप में फिर से न आती क्योंकि तीस चालीस साल से पड़ी हुई है। चूंकि लेखक भी अब दिवंगत हो चुके हैं इसलिए कोई नाम लेवा भी नहीं है उस पुस्तक का। उस पर किसी ने कोई फिल्म बनाई हो या ऐसा भी कुछ नहीं हुआ। रूसी भाषा में जरूर वो लगातार अनुवाद में रही है। आनन्द प्रकाश जी ने उस उपन्यास को धारावाहिक प्रकाशित किया। पराग की छपाई बहुत रंगीन होती थी। और इस उपन्यास को भी उन्होंने वो रूप दिया। उन्होंने कई ऐसी छोटी-छोटी चीजें शुरू कीं जो शिक्षा में हम आज भी नहीं कर पा रहे हैं। जैसे कि अधूरी कहानी प्रतियोगिता उन्होंने बच्चों के लिए शुरू की। वो इस तरह की नहीं थी कि जैसे आजकल कुछ एक पत्रिकाएं करती हैं कि चार लाइन दे देते हैं कि इसको तुम पूरा करो। या कई एक बार पाठ्यपुस्तकों में भी। एक बहुत ही जटिल शृंखला उन्होंने शुरू की। जिसमें उन्होंने तीन चरित्र गढ़े। और जो उसकी पहली ही किस्त थी उसमें करीब 400 शब्द तो उन्होंने अपनी तरफ से लिख दिए। और उसके बाद बाकी कहानी बच्चों को रचनी थी। आज हम लोग सोचते हैं कि 400 शब्दों की कहानी होगी तो बच्चे पढ़ कैसे पाएंगे। क्योंकि वो अधूरी कहानी प्रतियोगिता की शुरूआत थी और आप उसकी पहली ही किस्त में पुरस्कार प्राप्त जो कहानी है उसको पढ़ें तो आज भी आप चमत्कृत होंगे कि एक बच्चे ने और संयोग से वो बच्चा भी आज एक लेखक है - पन्ना वोहरा की वो कहानी थी। उस प्रथम पुरस्कार प्राप्त प्रकाशित कहानी को पढ़ेंगे तो आप हैरान होंगे, कि कितना सफल था वो प्रयोग और उसके बाद वो याद नहीं कितने साल चला, या कई महीनों तक चला। पराग की पहेलियों का अगर आप स्तर देखें तो वो किसी अंग्रेजी कॉमिक्स से या बाल पत्रिका से ली गई पहेलियां नहीं थीं। बल्कि नये सिरे से गढ़ी गई थीं, सबसे जो मुझे उनका विशेष प्रयोग याद आता है 'खिलौनों का डिब्बा' जो उन्होंने आनन्द कुमार जी से धारावाहिक करवाया। जिसमें हरेक अंक में उस पत्रिका को ही काटपीट कर के चिपका करके और चीजें बनाने के तरीके थे। एक कोई खिलौना हम उससे बनाते थे और वो गतिशील होता था, उसमें कहीं न कहीं विज्ञान भी होता था, कहीं उसमें केवल बुनियादी तालीम की चीजें होती थीं कि आप ठीक से चिपका सकें, सही जगह पर उसको मोड़ सकें, सही जगह पर उसको काट सकें, और उसके बाद वो कुछ करता था, और पूरा डिब्बा बनते-बनते आप समझिए कि एक साल में 12 ऐसे खिलौने एक बच्चा बना सकता था और जिनमें खुद बने हुए खिलौनों की, खुद बनाए हुए खिलौने की उपलब्धि का एक भाव रहता था। उसकी कल्पना ही आज नहीं की जा सकती। और उन्होंने उस युग में कितने हजारों बच्चों को उससे प्रेरित किया होगा। जबकि स्कूलों में ऐसा काम रुक चुका था क्योंकि बुनियादी शिक्षा के बारे में मान लिया गया था कि यह तो ठीक नहीं है और 60 के दशक की शुरूआत में शिक्षा किताबी ज्ञान की ओर फिर से लौट चुकी थी। तो जहां भी ये घर पर हो रहा था इससे एक बहुत बड़ी आप कह सकते है कि बच्चों को एक वैकल्पिक शिक्षा पराग दे रहा था, अपने हाथ से काट सकने की, चिपका सकने की, रंग भर सकने की। बाकी भी और ढेरों ऐसी गतिविधियां थीं। मैं उनका स्मरण इसलिए विवरण के खातिर नहीं कर पा रहा हूं पर जो एक चीज पराग ने की जिसका जिक्र करके मैं इस प्रसंग को पूरा करूंगा कि उन्होंने पराग बाल मेलों का आयोजन किया, भले ही ये पराग बाल मेले सिर्फ बम्बई में ही हों, आज उसको मुंबई कहते हैं, बंबई में होते थे लेकिन उसके जरिए वो पत्रिका पूरे देश भर में गतिविधियों से जुड़ती थी। और उसके लिए कई शहरों से बच्चे कई बार अपने माता-पिताओं पर जोर

डाल कर वहां तक आते थे। और एक पत्रिका जिसके लिए यह बिल्कुल जरूरी नहीं कि वो बच्चों का कोई आयोजन करे और वहां पर संगीत और नृत्य और कला इस तरह की चीजें करवाए - करवाया उन्होंने ! और इसके बाद जब कामिनी कौशल जो एक बहुत बड़ी अभिनेत्री थीं अपने युग की-आज भी हैं - वो जब आईं, मुझे याद नहीं है दूसरा अंक था कि तीसरा अंक था-'चाट पानी' नाम से उन्होंने एक स्तम्भ शुरू किया और मैं तो समझता हूं जिस दिन वह बन्द हुआ उस दिन बहुत से बच्चे रोये होंगे, इतना उनके करीब था वो। अब वो संबंध विच्छेद क्यों हुआ, क्या हुआ सरकारी कार्यालयी स्तर पर हमें नहीं पता। उसके बाद पराग में स्वयं ही एक परिवर्तन हुआ, आनन्द प्रकाश जी उसके संपादक नहीं रहे, लेकिन जब तक 'चाट पानी' चला वो इतना जीवंत स्तम्भ था, और कामिनी कौशल जो कि एक फिल्म एक्ट्रेस थीं उनकी अपनी एक कल्पना शक्ति थी और उन्होंने उस स्तम्भ में इतनी तरह की चीजें लिखीं कि वो वास्तव में लगता था कि एक चाट का ठेला है, जिस पर तरह-तरह की चीजें मिल रही हैं और उसमें कोई एक तरह का केऑस लगता था और हरेक चीज एक दूसरे से ज्यादा चटपटी है। और एक से ज्यादा हर चीज ।

प्रश्न: *क्या संस्मरण होते थे उसमें ?*

उत्तर: नहीं नहीं ! उसमें कभी कोई कहानी होती थी, कभी कोई जासूसी कथा होती थी, मतलब कि उसमें पराग के चार छः पेज कामिनी कौशल को सौंप दिए गए थे कि आप चाहें जैसे इसको डिजाइन करें तो उसमें कविता भी है तो अलग तर्ज की, उसमें कोई कहानी है या उनकी कोई चिट्ठी है तो भी ये भैया दीदी वाली स्टाइल में नहीं था वो - ये जो कि एक आकाशवाणी की स्टाइल शुरू से रही है, बच्चों को बड़े पेट्रोनाइजिंग ढंग से एक उपदेशवादी ढंग से कहना, बिल्कुल एक कल्पना का विस्फोट होते थे वो पेज। चार-पांच पेज होते थे वो जिसमें लगता था कि हम लोग एक ऐसे व्यक्ति से जुड़ रहे हैं जो हमारे साथ बैठकर खेलना चाहता है और उसका कोई उद्देश्य नहीं है। आनन्द के लिए बैठता है और उसमें छपी हुई कुछ चीजें भी बड़ी हैरान करती थीं कि किसी बच्चे ने ऐसा लिख के भेजा वो भी छप गया। इसको वो थोड़ा बहुत संवारती भी होंगी, मुझे नहीं पता। आपको उनसे इंटरव्यू लेना पड़ेगा कि वो कैसे कल्पना करती थीं। पर आप उन पृष्ठों को देखें वो पराग के अंतिम पृष्ठ होते थे। फिर उसके बाद एक चांद सितारा क्लब शुरू हुआ जिसमें केवल अपना नम्बर पाने के लिए महीनों इंतजार करना पड़ता था। वो भी पराग का एक ऐसा प्रयास था जिससे कि वो पत्रिका के अलावा एक बहुत बड़ा नेटवर्क बना बच्चों का जिसके जरिए बच्चे एक दूसरे से संपर्क करें। तो ये तमाम चीजें बड़ी प्रयोगशील थीं। अब इनमें बड़ी महत्त्वाकांक्षा भी दिखाई देती थी। एक नया प्रतिमान स्थापित कर देने की कि एक पत्रिका अपने आप में एक नयी तरह का विद्यालय और मुझे लगता है कि उसकी उपलब्धि को हम लोग आज याद करें तो बहुत कुछ सीख सकते हैं।

प्रश्न: *जो हम पराग के बारे में बात कर रहे हैं अगर हम उसकी तुलना में आज की बाल पत्रिकाओं के परिदृश्य पर नजर डालें तो क्या पाते हैं ?*

उत्तर: देखिए आज तो रेगिस्तान है, जैसा धर्मपाल जी ने लिखा है 'द ब्यूटीफुल ट्री', तो रेगिस्तान में अगर कोई अरंड का पौधा भी हो तो ब्यूटीफुल ट्री ही कहलाएगा। जब आपके सामने उजाड़ हो तो कोई बबूल का पौधा या कहीं कोई खरपतवार उग आए तो आप कहेंगे चलो हरियाली तो है। क्योंकि आज का परिदृश्य तो एकदम... मतलब भिन्न शब्द नहीं है उसके लिए। सीधे-सीधे पराग की तुलना करेंगे तो आप कहेंगे कि आप शिमला से लौट कर कालका में आ गए हैं । यहां वो ठंडक, वो हवा वो दृश्य वो सब भूल जाइए। अब आप मैदान में हैं, जो आपने पहले कहा क्रूर यथार्थ में हैं। क्योंकि आज एक तो हिन्दी की अपनी, एक ज्यादा वृहत्तर आप कह सकते हैं कि, जो एक क्राइसिस है वो बाल पत्रिका या बाल साहित्य में प्रकट हो रही है। जो स्वभाविक ही है कि कोई भाषा ही अपने संघर्ष से गुजर रही हो तो वह एक अलग प्रश्न है। तो अलग से बाल साहित्य में क्या हो सकता है। दूसरा यह है कि बच्चों को लेकर भी, बाल शिक्षा को लेकर भी जो समस्याएं हैं वो भी बाल पत्रिकाओं को प्रभावित कर रही हैं। क्योंकि पूरे पत्रकारिता जगत का अपना एक बाजारीकरण और व्यापारीकरण है वो भी उनको प्रभावित कर रहा है और बाकी टेलीविजन का जो असर है सिर्फ बाल मीडिया पर ही क्यों वो तो सभी मीडिया पर है। बड़ों की पत्रिकाओं पर भी इसका असर है। तो जो भी पत्रिकाएं हैं उनको वो भी प्रभावित कर रहा है। और इन सब के अलावा आप कह सकते

हैं कि एक हिन्दी पट्टी में विशेष हिन्दी क्षेत्र का जो भी कह लीजिए उसमें विशेष एक समस्या है कि चूंकि हम हिन्दी को अपनी एक प्रांतीय या अपनी आंचलिक अस्मिता का भी एक समर्थ माध्यम नहीं बना सके हैं इसलिए भी एक तरह का अवसाद है वो छाया हुआ है। हिन्दी जगत में और वो बाल पत्रिकाओं में भी दिखलाई देता है। जो कि बांगला में या मराठी में नहीं दिखलाई देता है। तो अब यही है कि गुजारे की हैं ये पत्रिकाएं। कड़की में गुजारा करने वाली बात है। मैं अभी देख रहा था जो-अच्छा है प्रयास -भास्कर ने बाल भास्कर शुरू किया, हर हफ्ते छपता है, उसमें बच्चों के कुछ चुटकुले हैं, कुछ अच्छे चुटकुले छप जाते हैं। अभी मैंने एक वर्कशाप में दो चुटकुले इस्तेमाल किए थे। दो हफ्ते पहले मुझे आराम से पढ़ने को मिली वो पत्रिका छत्तीसगढ़ में। यहां तो भास्कर आता नहीं है, और लेट हो जाता है। तो उसमें मुझे लगता है कि कुछ अच्छा, कुछ गुंजाइश है, क्योंकि उनके पास अच्छी प्रिंटिग टेक्नॉलॉजी है और कागज भी अच्छा है । लेकिन यही है कि वो बहुत एक सोची समझी, एक लम्बी योजना के तहत निकाली जा रही पत्रिका है, ऐसा नहीं है। इधर-उधर से बहुत सी सामग्री मिल ही जाती है कुछ और... देखिए जैसे फिल्में फार्मूले से बनती हैं वैसे ही आज का बाल साहित्य फार्मूले से बनता है। कि आपने कहीं से कुछ कॉमिक स्ट्रिप ले लिया, कहीं से कोई कार्टून ले लिया, कहीं से कोई पहेली ले ली, कहीं से ढूंढ़ो तो जाने ले लिया, कहीं से कुछ एक सीरिज ले ली तो उस तरह से मिलजुल कर के एक चीज बन जाती है। जो एक योजनाबद्ध तरीके से आप कुछ करते हैं उस तरीके से तो मेरे ख्याल से एक भी हिन्दी पत्रिका इस समय नहीं है जिस पर आप विचार कर सकें। और वो एक ज्यादा वृहत्तर समस्या का प्रतीक भर है क्योंकि वो... पत्रिका जगत तो उसका एक प्रतीक भर है या उसका एक प्रतिबिम्बन है। बच्चों के प्रति चिन्तित होकर के या बच्चों के प्रति उत्साहित होकर के लिखा जाने वाला साहित्य अगर बड़ी मात्रा में लिखा जा रहा हो तो उसी का एक रूप पत्रिका में आता है। यानी इंडियन प्रेस इतनी तमाम चीजें छाप रहा था बच्चों के लिए तभी 'बालसखा' को इतने समय तक वो टिकाए रख सका। आप देख लीजिए कि जब इतने बड़े-बड़े साहित्यकार पदमलाल मुन्नालाल बक्षी, देवीदत्त शुक्ल और ठाकुर श्रीनाथसिंह के स्तर के साहित्यकारों को वो उस युग में संपादक बना सका और इतने समय तक उसने वो किया। आज मैं तो नहीं समझता कि आप एक भी बड़े संपादक का नाम ले सकते हों। और ये बात केवल बाल पत्रिकाओं की नहीं है। आप पत्रिका जगत पर भी गौर करें तो कौनसा बहुत बड़ा साहित्यकार है जो आप ढूंढ़ पाएं जो एक व्यापारिक या व्यावसायिक पत्रिका का उस तरह से संपादक हो, जैसे धर्मवीर जी धर्मयुग को निकालते थे, अज्ञेय जी दिनमान को निकालते थे उस तरह की चीज, तो बाल पत्रिकाओं पर भी वही बात लागू होती है। श्रीनाथ सिंह के स्तर का कोई साहित्यकार आज बाल पत्रिकाओं का संपादक हो, जिसकी कोई दृष्टि हो। जो महीने दर महीने हमारे सामने आ रही हो, इस तरह की कोई स्थिति तो है नहीं। इसलिए तुलना एक तरह से व्यर्थ है क्योंकि यह व्यर्थ में आप को उदास करेगी। और मैं नहीं समझता कि उदासी के लिए हम लोगों के पास कोई वक्त होना चाहिए। इसलिए आप इस प्रश्न को तो छोड़ ही दें।

प्रश्न: लेकिन बबूल का पेड़ है कोई ?

उत्तर: नहीं जैसा मैंने आप से कहा कि आप बबूल को अगर कांटों के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं तो उसकी जगह मैं आपको कहूंगा आईपोमिया का तो पेड़ जरूर है। जैसा मैंने आपको जिक्र भी किया है एक पत्रिका का जो हर सप्ताह आ रही है, आप कह सकते हैं जो हर सप्ताह उग रही है। आईपोमिया भी इस तरह से खूब उगता है जगह-जगह। उसका भी एक फूल उगता है। इस तरह के प्रयास तो कई हैं। आपके ही प्रदेश से एक पत्रिका आती है और इस तरह का जो प्रयास मैंने आपको बताया और सरकार भी एक मैगजीन निकाल रही है 'बाल भारती' और उसके अलावा छोटी-छोटी पत्रिकाएं तो इधर-उधर देखने को मिल जाती हैं वहां भी।

प्रश्न: लेकिन मुख्यत तो दो ही पत्रिकाएं हैं चंपक और नंदन। इनकी लोकप्रियता का क्या कारण है ?

उत्तर: देखिए ये जो पत्रिकाएं हैं हिन्दुस्तान टाइम्स ग्रुप और सरिता ग्रुप की। सरिता ग्रुप की तो पत्रिका ऐसी हैं कि अंग्रेजी में भी हैं और हिन्दी में भी हैं। इसका एक निश्चित बना-बनाया रूप है और चूंकि बच्चों के पास और कोई चीज नहीं है और खासकर के इसमें एक उभरता हुआ निम्न मध्यम वर्ग का संसार है, जो अभी तक पूरी तरह से अंग्रेजी में शिफ्ट नहीं हुआ है। उस वर्ग को ये पत्रिकाएं उपलब्ध होती हैं। और वहीं पर इनका एक बहुत विस्तृत संसार है। और चूंकि

उसमें हर अंक में एक निश्चित रूप में वही सामग्री मिलती है जिसकी आप अपेक्षा करते हैं। उसमें फिर सोचना भी बहुत नहीं है । नंदन का मामला थोड़ा-सा भिन्न है क्योंकि नंदन को सुधारने की कुछ कोशिश की गई है। और मैंने भी किसी हद तक इस कोशिश को समझने की कोशिश की है। लेकिन जिस हद तक अपेक्षा की जा सकती थी परिवर्तन की उस हद तक तो नहीं दिखाई पड़ता लेकिन फिर भी बच्चों को खबरों की दुनिया से जोड़ने का या कि बच्चों को कुछ गतिविधियां करने के लिए देने का या फिर कुछ विशेष अवसरों पर कुछ विशेष सामग्री देने का प्रयास नंदन कर रहा है। लेकिन नंदन भी इस बात पर ही निर्भर है आखिरकार कि बड़े लेखक, कवि किस हद तक बच्चों के लिए लिखना अपने लिए जरूरी मानते हैं । अगर ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है जो कि बच्चों के लिए लिखने के लिए समय निकालते हों-जैसे पराग ने मोहन राकेश से अनुरोध किया तो उन्होंने एक कहानी लिख दी। श्रीलाल जी से स्कोलास्टिक ने अनुरोध किया उन्होंने एक उपन्यास लिख दिया। अब आप कितने लोगों को इस तरह से ला पाएंगे जो महीने दर महीने एक पत्रिका को इस तरह से चला सकें कि हर अंक में आप ढूंढ़ें जो हर सप्ताह उग रही है कि इस अंक में कौनसे बड़े लोगों के नाम हैं जो कि आप किसी बड़ी पत्रिका में, बड़ों की पत्रिका में ढूंढ़ने के आदी हैं। हालांकि उस स्तर पर भी हमें दिक्कत है आज हिन्दी में। उस स्तर पर तो आपको इन पत्रिकाओं में भी बहुत दिक्कत हो जाएगी। और हिन्दी का जो भी श्रेष्ठतम रूप आज है जो कि हम कृष्णा सोबती जी के या श्रीलाल शुक्ल के या युवतर लेखकों के लेखन में देख सकते हैं। उस तरह से बाल साहित्य में हिन्दी का जो रूप आज होना चाहिए या जिसकी कि आप अपेक्षा करेंगे आज हिन्दी की गतिशीलता को देखते हुए या जहां तक हिन्दी को पहुंचाया है इन जैसे लेखकों ने वो बाल साहित्य के स्तर पर आप नहीं देख पाएंगे। इसलिए वो चल रहे हैं अच्छी बात है।

प्रश्न: हमारी अब तक की बातचीत बाल साहित्य के इतिहास और वर्तमान परिदृश्य पर ज्यादा केंद्रित रही। अब हम इसके दूसरे हिस्से को सैद्धांतिक प्रश्नों पर केंद्रित करना चाहते हैं। आपने ठीक कहा कि एक लेखक को निर्देशित नहीं किया जा सकता लेकिन फिर भी हम एक पाठक के दृष्टिकोण से विचार करें तो हम जिस सवाल के दायें बायें से निकल रहे हैं मैं चाहता हूं उस से सीधे मुठभेड़ की जाए कि एक अच्छे बाल साहित्य के मानक क्या हों ? क्या कुछ हो सकते हैं - कुछ प्रतिमान निर्धारित किए जा सकते हैं ?

उत्तर: मेरी समझ में तो किए जा सकते हैं। बल्कि आप अच्छे साहित्य के प्रतिमान भी, बड़ों के साहित्य के प्रतिमान भी आखिर निर्धारित करते ही हैं और जो बड़े समीक्षक हैं दुनिया के भरतमुनि हों, अरस्तू हों, तब से लेकर के और हमारे समय में आई. ए. रिचर्डस या प्रोफेसर नामवर सिंह जैसे लोगों ने आखिर नए प्रतिमान स्थापित किए। उसी तरह से अगर आप देखें तो बाल साहित्य के प्रतिमान निर्धारित करने का प्रयास भी कई बड़े आलोचकों ने किया है। यद्यपि हमारे देश में चूंकि बाल साहित्य की समीक्षा की परंपरा नहीं है इसलिए हमारे यहां यह चर्चाएं नहीं हुई हैं। लेकिन अन्य समाजों में जहां बाल साहित्य हमसे ज्यादा विकसित अवस्था में है वहां प्रतिमान स्थापित करने का प्रयास किया गया है । अब इन प्रतिमानों की स्थापना की कोशिश की तह में मुख्य विचार यही है कि बच्चे की प्रकृति को जो प्रतिबिम्बित करे, ऐसा साहित्य ही आप कह सकते हैं कि बाल साहित्य है। जो बच्चे की स्वभाविक प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करे, ऐसे साहित्य को बाल साहित्य कहना इसलिए उचित होगा क्योंकि ऐसे साहित्य को पढ़ते समय बच्चे को अपनापन या अपना प्रतिबिंब उसमें दिखाई देगा। इसलिए उसका तादात्म्य उससे स्थापित होगा। अब ये जो सवाल है कि बच्चे की अपनी प्रवृत्तियां क्या हैं? यह मुद्दा है जो थोड़ा-सा एक अलग तरीके का मुद्दा है क्योंकि बच्चे की प्रवृत्तियां जानने का प्रयास तो मनुष्य प्राचीन काल से कर रहा है। प्लेटो जैसे दार्शनिक ने ही यह कह दिया था जिसने दुनिया में और सब कुछ समझने की कोशिश की, पर बच्चे के बारे में कहा था कि बच्चा तो एक विदेशी होता है, उसको समझने का प्रयास बड़ा मुश्किल है। वो हमारे बीच रहता जरूर है पर किस तरह सोचता है, यह तय करना बड़ा मुश्किल है। तो अनेक लोगों ने इन शताब्दियों में यह प्रयास किया और इधर के जो सौ वर्ष बीते हैं उनमें आप कह सकते हैं कि चूंकि बाल मनोविज्ञान विज्ञान की एक धारा बनकर उभरा या समाज विज्ञान की धारा बनकर उभरा इसलिए आज हम पहले से ज्यादा दावा कर सकते हैं कि हम बच्चे के व्यक्तित्व को, उसकी अभिवृत्तियों को, उसके तौर तरीकों को समझ सकते हैं। तो यह तो हुआ उसकी वैज्ञानिक समझ लेकिन अगर आप जिसको कहते हैं एक

सहज समझ जो किसी भी मां में होती है या जो पिता में होती है या सूरदास जैसे कवि में होती है वो तो हमारे पास हमेशा से उपलब्ध रही है, जैसे जब सूर अपने पद में कहते हैं कि 'मैया कबहुं बढ़ेगी मेरी चोटी, कितनी बार मोहि दूध पिअत भई, यह अबहूं है छोटी'। तो यह जो बाल तर्क हैं इसको सूरदास रेखांकित कर सके हैं इसमें कि... अब पिआजे ने इसी को तीन सौ चार सौ वर्ष बाद अपने ढंग से इसको एक्सप्लेन किया है कि बच्चे किस तरह ठोस चीजों में जीवन का आरोपण करते हैं। और यहां पर दूध पीने से चोटी बढ़ना जो सूर ने कृष्ण के तर्क में आरोपित किया है वो उसी किस्म का तर्क है कि मैं इतना दूध पीता हूं यह बढ़ क्यों नहीं रही है, या जैसे कि जो सूर का दूसरा ज्यादा मशहूर पद है कि 'मैया मैं नहीं माखन खायो' कि मुझे और साथियों ने जबरन मेरे मुंह पर लगा दिया है। बच्चे का एक भोलापन और बड़े को अपने तर्कों से किसी तरह से समझा-बुझा लेने की क्षमता है और उसके बीच में जो उसकी सहजता, अपनी बात को, अपने बहाने को सहजता से कहना जिसको अक्सर हम लोग कमजोरी मान लेते हैं। ये जो बाल सुलभ वृत्तियां हैं इन्हें तो हमारे बीच पहचानने वाले लोग रहे ही हैं। इसलिए ऐसा नहीं है कि आधुनिक विज्ञान के हम मोहताज हैं लेकिन जब आप बाल साहित्य में बच्चे की बाल सुलभ प्रवृत्तियों को या उसके सोच-समझ के तरीकों को या उसकी रुचियों को प्रतिबिम्बित कर पाते हैं तो आप कह सकते हैं कि यह एक अच्छी बाल साहित्य की कृति है। अब उस कृति का पठनीय होना भी जरूरी है और उस आयु वर्ग द्वारा पठनीय होना जरूरी है जिसकी प्रवृत्तियों को वह प्रतिबिम्बित कर रहा है। तो फिर जो तकनीकी आधार हैं, उसके प्रतिमान हैं; यह भी आ जाते हैं कि भई आपने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, जिस वाक्यावली का प्रयोग किया है, किस हद तक उन बच्चों को वो ग्राह्य है, जिनको ध्यान में रखकर आपने कोई कृति लिखी है। इस तरह के मानक भी लगाए जा सकते हैं। और यह भी एक ध्यान रखने की बात है कि बाल साहित्य जो खासकर के जो छोटों या किशोरावस्था से पहले के बच्चों के लिए लिखा जाता है उसमें साहित्यकार के अलावा चित्रकार का भी बड़ा योगदान होता है कि क्या वो साहित्यकार की अपनी कल्पनाओं के साथ-साथ चल सका है कि नहीं। तो बाल साहित्य के प्रतिमानों में यह भी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रतिमान बनकर उभरता है कि कोई कृति शब्दों के अलावा किसी कल्पना को चित्रों में कहां तक रूपायित कर पाई है। क्योंकि बच्चा शब्दों के जरिए भी उस कल्पना जगत में प्रवेश करेगा और चित्रों के जरिए भी करेगा। कई बार हम देखते हैं कि चित्र उन्हीं घटनाओं पर बना दिए जाते हैं जिनका जिक्र पहले से शब्दों में है। तो अगर शब्दों के जरिए किसी साहित्यकार ने चित्र बनाने की कोशिश की है तो भई चित्रकार क्यों उन्हीं में अपना श्रम बरबाद कर रहा है। उसको घटनाओं के बीच में जो समय है - जैसे कि मान लीजिए आपकी पहली घटना कह रही है कि कोई व्यक्ति अपने घर से निकला और दूसरी घटना कह रही है कि कहीं जाकर के उसने चाय पी। अब आप अगर एक समर्थ चित्रकार हैं तो इन दो घटनाओं को तो छोड़ ही दीजिए कि घर से निकला और कहीं जाकर चाय पी, आप कल्पना कीजिए कि जो बीच के क्षण में हुआ जिसका जिक्र साहित्यकार ने नहीं किया। उसका चित्र कोई बनाए तब तो हमारी कल्पना कुछ आगे बढ़े। तो चित्रकार किन क्षणों को चुनता है और किस तरह उन क्षणों को रूपायित करता है और वो कितने गतिशील हैं, वो भी बच्चे की दृष्टि को किस हद तक प्रतिबिम्बित कर रहे हैं ये भी बाल साहित्य के प्रतिमानों में, मुझे लगता है एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमान है।

प्रश्न: बच्चों के - बच्चे जब कह रहा हूं तो उसमें बच्चियां भी शामिल हैं - विकास में बाल साहित्य की कोई भूमिका होती है क्या ? या हो सकती है क्या ?

उत्तर: आप इतनी दूर से आए हैं, होगी ही, वरना आप क्यों ये इतना लम्बा इन्टरव्यू लेते। ऐसा नहीं कि बाल साहित्य के बिना समाज का काम नहीं चलता है। बल्कि हजारों साल से हमारा काम चल ही रहा था। लेकिन जो आधुनिक युग है जिसमें बचपन जीवन की एक विशिष्ट श्रेणी बनकर उभरा है। जिस युग में हम ये समझ सके हैं कि इस जीवन के इस कालखण्ड की अपनी एक विशेषता और भूमिका होती है। और ये किसी एक या दो निराले बच्चों के लिए नहीं होती, हरेक के लिए होती है। और इस युग में एक और फर्क यह है कि इस युग में आप चाहते हैं कि जो हरेक व्यक्ति है वो पढ़ना लिखना सीखे। आप चाहते हैं कि हरेक व्यक्ति शिक्षित हो, जबकि यह अब के पहले जितने युग बीते उनमें हम मानते थे कि भई शिक्षा तो कोई-कोई ही पा सकता है, सुपात्र को ही देनी चाहिए। इस तरह के कई

मुहावरे अन्य भाषाओं कई भाषाओं में पाए जाते हैं। तो इस युग की जो सार्वभौमिकता है इसके कारण भी साहित्य के संदर्भ में एक नई स्थिति उत्पन्न होती है। जैसे साहित्य सबके लिए है, ऐसे ही यदि बचपन में शिक्षा सबके लिए अधिकार मान ली जाए तो फिर बाल साहित्य की एक विशेष भूमिका बनती ही है। क्योंकि बाल साहित्य शिक्षा के लिए भूमि तैयार करता है, आप कह सकते हैं सिंचाई करता है और वह उन उन जगहों पर जाता है जहां औपचारिक शिक्षा या तो जाती नहीं और कई जगह जा सकती नहीं । जैसे जज्बात हैं, भावना, संवेदना का जो पूरा क्षेत्र है इसमें एक हद तक ही सायास संवाद जा सकता है। देखिए साहित्य तो वहां जाता है जहां कोई नहीं जाता और ये बच्चों के बारे में नहीं बड़ों के बारे में कहा गया है कि जहां न जाए रवि वहां जाए कवि। वो कौनसी जगह है, वो हृदय की गहराइयां ही हैं। आप किसी कविता की किसी पंक्ति से और किसी ऐसी स्मृति से आविष्ट हो उठते हैं जो आपको कोई और याद नहीं दिला सकता। तो यही स्थिति बाल साहित्य की है कि, बाल साहित्य बच्चे के व्यक्तित्व की ऐसी गहराइयों को छूता है जिनको कि ज्ञान, गणित, भाषा की शिक्षा नहीं छू सकती। इसलिए उसकी विशिष्ट भूमिका है इसमें तो कोई दो राय होनी ही नहीं चाहिए।

प्रश्न: *बाल साहित्य जिसे संबोधित है क्या ऐसा कोई सार्वभौम बच्चा पाना संभव है मतलब मुझे ऐसा लगता है कि हमारा बाल साहित्य से जुड़ा लेखन और प्रकाशन इस समय जो है वो प्राय: शहरी मध्यवर्ग के बच्चों को संबोधित होता है। आपने अभी पिछले उत्तर में भी बोला और आपने 'बच्चे की भाषा और अध्यापक' में भी लिखा है कि बच्चे उसी घटना से जुड़ेंगे जिसमें उनके अपने अनुभव हों तो इसमें...*

उत्तर: नहीं आपने मुझे गलत कोट किया। मैंने कहा जिसमें उनकी अपनी प्रवृत्तियां हों।

प्रश्न: *नहीं ये मैं 'बच्चे की भाषा और अध्यापक' से ...*

उत्तर: अच्छा उससे ....

प्रश्न: *यदि आप चाहें तो मैं ...*

उत्तर: तो वो किताब तो शिक्षा के बारे में है न!

प्रश्न: *जी ।*

उत्तर: तो बाल साहित्य का तो मैंने नहीं...

प्रश्न: *उसमें आपने कहानी के बारे में लिखते हुए कहा है। आपने चार कहानियां उद्धृत की हैं और ये लिखा है कि अध्यापक के अनुभव बच्चे के अनुभव से भिन्न होते हैं और इसलिए बच्चे जुड़ नहीं पाते हैं । और बच्चे उसी कहानी से जुड़ेंगे जिसमें उनके अपने अनुभव हों। और बाल कहानियां जब हम पढ़ रहे हैं तो प्राय: आपको गांव देहात के बच्चों को अनुभव उनमें नजर नहीं आते हैं ।*

उत्तर: देखिए ये जो ... एक तो आपका जो उद्धरण है उससे मुझे दिक्कत है। ये जो सवाल है कहानी का, कहानी कक्षा में सुनाने का, बाल साहित्य से पहले तो आप इसको अलग करें। क्योंकि कहानी की एक शैक्षिक भूमिका है। सुनने, बोलने की क्षमताओं के विकास में। और वहां पर अलग मुद्दे आ जाते हैं कि क्या-क्या, लेकिन जहां तक बाल साहित्य का प्रश्न है उसमें कहानी का सवाल है वो अगर बच्चे की रोजमर्रा की जिन्दगी है, आप उसको एक शर्त बना देते हैं कि वही प्रतिबिम्बित हो, तो फिर साहित्य पर तो आपने फिर एक बार एक निर्देश लागू कर दिया जो आपने थोड़ी देर पहले कहा था कि आप नहीं करेंगे। साहित्यकार क्या करेगा, क्या नहीं करेगा, अगर आप उसे स्वतंत्र नहीं छोड़ेंगे, कैसे चलेगा। देखिए बाल साहित्यकार के लिए यह बड़ा जरूरी है कि आप उसे स्वतंत्र छोड़ें कि वो हो सकता है कि किसी रचना में वो बच्चे की निकट के जगत की बात करे। हो सकता है किसी रचना में वो कल्पना लोक में ले जाए। किसी में विदेश में ले जाए। आज के बाल साहित्य में क्या हो रहा है अगर ये आपका प्रश्न है तो वो एक अलग प्रश्न है। और फिर वो प्रश्न सिर्फ आप आज के बाल साहित्य पर ही क्यों लागू कर रहे हैं, वो आप की आज की राजनीति पर बोलिए, क्या वो ग्राम केन्द्रित है। आज की अर्थ व्यवस्था पर बात करिए, आज की औद्योगिक

व्यवस्था पर बात करिए क्या वो ग्राम केन्द्रित है। आज की जो पानी वितरण की स्थिति है क्या वो ग्राम केन्द्रित है। आज की डाक व्यवस्था पर बात करिए तो वो तो फिर बात पूरे समाज की आज की जो स्थिति है उसमें गांव है वो हाशिए पर है। कोई आश्चर्य नहीं कि बाल साहित्य में भी वो हाशिये पर है। बाल साहित्य कोई मंगलग्रह में तो नहीं लिखा जा रहा है।

प्रश्न: *आपने अभी चित्रों और कथा के अन्तर्सम्बंध के बारे में बात की और इसमें आपने गलत और सही दो परिप्रेक्ष्य बताए थे। हमारी चित्रकथाएं प्राय: पहले परिप्रेक्ष्य को लेकर चलती हैं कि लिखे शब्द को वैसे का वैसा प्रस्तुत करती हैं और इसलिए प्राय: चित्रकथाओं के बारे में यह तर्क दिया जाता है कि वो बच्चे की कल्पनाशीलता को बाधित करती हैं; वर्णनात्मकता उसके ज्यादा विस्तार के लिए जगह देती है । लेकिन क्या ये बात एनीमेशन के बारे में भी कही जा सकती है ? मैंने इस अंक के दौरान ही बहुत से बच्चों से बात की, मैंने उनसे पूछा कि बाल रचनाओं में से तुम्हारा सबसे अविस्मरणीय चरित्र कौनसा है तो बहुत ज्यादा उत्तरों में 'मोगली' का नाम था, 'जंगल बुक' का एक चरित्र। और ज्यादातर बच्चों ने यह पढ़ा नहीं था बल्कि टीवी सीरियल देखा था। तो एनिमेशन की भूमिका को आप किस रूप में देखते हैं ?*

उत्तर: देखिए एक तो आपका सवाल जो है वो इस इन्टरव्यू के दायरे से इसलिए बाहर है क्योंकि ये बाल साहित्य पर नहीं है। एक बहुत बड़ा मीडिया जगत है जिसकी चर्चाओं के लिए हम लोगों को अलग से इतिहास में जाना पड़ेगा। जिस इतिहास की चर्चा आप से उस दिन हुई थी उसके परिप्रेक्ष्य में इन चर्चाओं को रखना संभव नहीं है। इसलिए ये प्रश्न अगर आप पूछना ही चाहते हैं तो हम लोगों को दुबारा प्रयास करने चाहिएं या इसको प्रसंगेत्तर मानकर यहां सिर्फ इतना कह कर छोड़ देना चाहिए कि एनिमेटिड फिल्म जो हैं वो आज के मीडिया का अंग हैं। जो साहित्य का यदा-कदा उपयोग करती हैं। कहीं अच्छी तरह कर लेती हैं, कहीं बहुत खराब तरीके से करती हैं। उनमें जो ज्यादा सिद्धहस्त लोग हैं वो किसी कहानी को, प्रकाशित कहानी को, ज्यादा सुन्दर ढंग से व्यक्त कर लेते हैं। और जो बहुत ही सस्ते ढंग से काम करते हैं, अच्छा काम नहीं कर पाते हैं वो बहुत ही एक अनगढ ढंग से, क्रूर ढंग से करते हैं। तो यह अन्तर तो स्वभाविक ही है मिलेगा ही क्योंकि मीडिया एनिमेशन भी एक महंगा काम है। लेकिन ये बाल साहित्य की विधा नहीं है। यह मैं कहना चाहूंगा।

प्रश्न: *लेकिन टेलिविजन जो शहरी मध्यमवर्ग, निम्न मध्यमवर्ग की सच्चाई बन गया है उसे किस रूप में देखें मतलब बच्चे तो टीवी देखेंगे; घर में टीवी है तो देखेंगे। ये किस तरह की चुनौती पेश कर रहा है बाल साहित्य के लिए ?...*

प्रश्न: *या कि ये चुनौती नहीं है इसे एक सहयोगी माध्यम के रूप में देखें ?*

उत्तर: देखिए, टेलिविजन केवल बच्चों के लिए चुनौती नहीं है। मेरे आपके लिए भी चुनौती है, अगर आप मॅक्लूहन को पढ़ें तो वो तो दुनिया के लिए चुनौती है। बच्चे के लिए कोई विशेष, आपके मन में क्यों यह प्रश्न उभरता है। यही कह सकते हैं आप बहुत से बहुत कि चूंकि बच्चों का बचपन एक ऐसा समय होता है जब स्वयं अपनी रक्षा करने के साधन उनके पास नहीं होते हैं इसलिए उनके संदर्भ में टेलीविजन शायद कुछ विशेष एक चिंता का विषय बनता है। लेकिन इस विषय पर कोई एक सैद्धांतिक राय बनाना संभव नहीं है। क्योंकि टेलिविजन एक सार्वजनिक माध्यम है, अगर वो अनियंत्रित है, अगर वो आक्रामक है, हिंसक है या कि पूरी तरह से बाजारी हो चुका है तो जितना असर उसका परिवार पर होना है होगा, कुछ असर सीधा बच्चों पर होगा, कुछ असर माता-पिता के जरिए बच्चों पर होगा। कुछ विज्ञापनों के जरिए होगा; यह स्वभाविक है और इस अर्थ में जो आम चिन्ताएं व्यक्त की गई हैं मीडिया और बाजार के संबंधों पर, वो चिन्ताएं बच्चों के टेलिविजन पर भी लागू होंगी या बच्चों द्वारा टी वी देखे जाने पर भी लागू होंगी। वो कोई अलग से नहीं हैं। इसलिए मैं आपसे कह रहा हूं कि यह प्रश्न जो है आपकी इंटरव्यू की गहराइयों से (आप) अन्याय कर रहे हैं। ये प्रश्न हैं जो बाल साहित्य के सवाल नहीं हैं। ये तो एक सांस्कृतिक प्रश्न आप उठा रहे हैं । मुझे लगता है प्रश्न आपके हो गए। क्योंकि जब आप इन प्रश्नों पर आ गए तो इसका मतलब अब आप के पास कुछ है नहीं।

प्रश्न: या कि ये चुनौती नहीं है इसे एक सहयोगी माध्यम के रूप में देखें ?

समवेत : नहीं ! नहीं ! (साझा हंसी तीनों की)

प्रश्न: एक से ज्यादा जगह आपने लिखा है कि उपदेशपरकता और आदर्शवाद जब बाल साहित्य में डाला जाता है तो वो इस तरह की नीतिपरकता है जो ... ये शायद आपने नहीं लिखा, ये पंक्ति मैं अपनी तरफ से जोड़ रहा हूं - कि हम बच्चों के लिए कुछ निर्धारित कर रहे हैं न कि वे बच्चों की रचनाएं हैं। तो इस प्रवृत्ति से बचा जाना चाहिए इसमें तो कोई शक है ही नहीं लेकिन इसका सीधा तर्क क्या ये नहीं है कि बड़े बच्चों की रचनाओं के वास्तविक रचनाकार नहीं होने चाहिए। बच्चे, बच्चों की रचनाओं के वास्तविक रचनाकार होने चाहिएं ?

उत्तर: नहीं मैं बिल्कुल इससे सहमत नहीं हूं, बच्चों के लिए रचना तो बड़े ही कर सकते हैं।

प्रश्न: 'ही' तो न कहें आप !

उत्तर: नहीं बिल्कुल मैं कहूंगा।... देखिए ये जो आजकल प्रवृत्ति हो गई है कि शिक्षा में अगर कोई नया कदम उठाया गया वो कितना सही है कितना गलत यह जांच करने के लिए लोग बच्चों से इन्टरव्यू ले रहे हैं। ये उस तरह से है कि जैसे आप यदि बच्चा बीमार हो, तो आप बच्चे से पूछें कि बेटा किस डॉक्टर के पास चलें। बच्चे से पूछें कि आप कौनसी दवाई लेना चाहेंगे। ये तो बतंगड़ है, मतलब एक बिल्कुल ही विद्रूप है, इस स्थिति का। क्योंकि एक बच्चा आपके साथ चल रहा है। कल्पना कीजिए आपका ही बच्चा आपके साथ जा रहा है बाजार में और वो हर चीज को देखकर के लालायित होता है। आपका काम है तय करना कि आप उसको क्या चीज खरीदने देंगे। कौनसी चीज खरीदने नहीं देंगे। या कौनसी चीज खाने देंगे, कौन सी पीने देंगे, या कौनसी नहीं देंगे। अगर आप ये करने के लिए तैयार नहीं हैं तो आप बच्चे के माता-पिता या अभिभावक या भाई या शिक्षक बनने की पात्रता नहीं रखते। किसी भी समाज के लिए जरूरी है कि वो बच्चों के दृष्टिकोण से कई व्यवस्थाएं करे और बाल साहित्य भी उन्हीं में से एक है। ये लिखना हमारा काम है। बच्चे जो लिखते हैं ये उनकी अभिव्यक्ति है जो उनकी अभिव्यक्ति क्षमता को आगे बढ़ाने का एक शैक्षिक माध्यम है। उसको आप बाल साहित्य का नाम दें तो फिर यह तो पूरी तरह से वही... मतलब जब इस बात का कोई अर्थ ही नहीं रहा तो फिर बड़े को क्या प्रयास करना है बच्चों से जुड़ने के लिए या बच्चों के लिए कुछ करने के लिए, कुछ लिखने के लिए, और जहां तक नीतिपरकता का सवाल है यह तो आप देखते ही हैं कि जितने महान बाल साहित्यकार हैं उनको आप जब पढ़ें, क्लासिक्स को पढ़ें, हिन्दी में मान लीजिए सर्वेश्वर को पढ़ें, तो उनकी एक ही कविता को पढ़ लें आप। 'बतूता का जूता' को पढ़ें, आप देख सकते हैं कि किस तरह एक बड़ा रचनाकार बच्चे को भाषा से खेलने देता है, भाषा के जरिए कल्पनाएं करने देता है, और वह इस चक्कर में नहीं रहता है कि बच्चा मेरी पकड़ में आया है, मेरी कविता पढ़ रहा है तो मैं उसको दो-चार बातें सिखा दूं, क्योंकि उसको पता है कि बच्चे ऐसे नहीं सीखते हैं, आधुनिक मनोविज्ञान ने तो बताया ही है, खोद-खोद कर बताया है कि भाई साहब बच्चे आपके सिखाने से नहीं सीखते हैं, बच्चे आपके संपर्क में कुछ सीख सकते हैं बशर्ते कि आप सिखाने का भूत अपने ऊपर से निकाल दें, आप एक ऐसा वातावरण बनाएं, आप ऐसी गतिविधियों का संचालन करें, ऐसी सामग्री इकट्ठा करें, ये आपकी भूमिका है जो कि एक आधुनिक मनोविज्ञान सम्मत शिक्षा विज्ञान में निर्धारित है कि एक शिक्षक जो है वो एक माहौल बना सकता है जिसमें बच्चे सीख जाएंगे पर वो सिखा नहीं सकता। डायरेक्टली सिखा नहीं सकता, कि आप बोलेंगे कि अच्छा तुम अब सच बोला करो, आप सोचेंगे कि वह सच बोलने लगेगा, यह नहीं हो सकता, जिस परिवेश में वो रहेगा उसी परिवेश से वो सीखेगा, हालांकि यह बात प्राचीनकाल से किसको नहीं मालूम है कि बच्चे स्वयं सीखते हैं, सबसे बड़ी बात शिक्षा के बारे में यही है कि वे स्वयं सीखते हैं। और उस वातावरण में क्या सीखने लायक है, यह हमारे ऊपर निर्भर होता है कि हम उस वातावरण से ऐसी चीजों को निकाल दें जिनसे वो कुछ गलत सीख सकते हैं या घायल हो सकते हैं, जैसे आप कहते हैं भई एक चाकू पड़ा है, एक बच्चा उससे खेलेगा और खेलेगा तो हो सकता है घायल हो जाएगा। अगर आप उसको बताना चाहते हैं कि तुम चाकू से मत खेलो तो आप चाकू को वहां से हटा दीजिए। आप और कुछ रख दीजिए वहां वो उससे खेलेगा। तो यही चीज इस पर लागू होती है। जब कोई नीति बताने लगता है तो वो बाल साहित्य नहीं लिख रहा होता है। वो फिर

बाल साहित्य के प्रतिमानों से अपने को अलग कर लेता है।

प्रश्न: मेरा अंतिम प्रश्न है और हालांकि इस सवाल के जवाब में आपका एक प्रत्याशित उत्तर मानकर चल रहा हूं जो आपने अभी कहा था गांव देहात के बच्चों तक या गांव देहात न कहें - मुहावरा हो गया है - अधिकतम बच्चों तक बाल साहित्य कैसे पहुंचे ? इसके दो भाग हैं एक तो अभी मैंने तूलिका की पुस्तकें देखीं जो कि मैं कहूंगा कंटेट और फॉर्म दोनों दृष्टि से बेहतरीन थीं लेकिन जो सबसे सस्ती किताब थी वो 80 रुपये की थी। तो बहुत सीमित तो इसे ऐसे ही कर रहे हैं ...

उत्तर: ये तो देखिए समाज को सोचना है कि बच्चों का जो चित्रकार है, बच्चों का जो लेखक है, उसको आप पैसा कितना देंगे। शासन को सोचना है कि बच्चों के साहित्य को कैसे ग्राह्य बनाया जाए मूल्य की दृष्टि से। क्योंकि बच्चों का साहित्य छापना महंगा काम है, इसमें कोई संदेह नहीं है। अगर आप किसी चित्र की अच्छी छपाई चाहते हैं तो पैसा लगेगा, अगर वो कोई व्यावसायिक संस्था करेगी तो उसको तो पूंजी लगानी पड़ेगी। अब इसका तो विकल्प वही है कि ये पब्लिक सैक्टर जैसी चीज ही हमारे समाज में इस समस्या से निजात दिला सकती है कि अगर यह एक सार्वजनिक उपक्रम के तौर पर बच्चों की किताबें बच्चों तक पहुंचाई जाएं, सार्वजनिक पुस्तकालय हों,

प्रश्न: चल पुस्तकालय होना चाहिए ...

उत्तर: हर गांव में पुस्तकालय हो सकता है, चल पुस्तकालय की जगह अचल पुस्तकालय होना चाहिए। अचल संपत्ति होनी चाहिए हर बच्चे की कि वो पुस्तकालय से किताब ले सके। अब ये कल्पना ही लगती है आज की तारीख में। आज की तारीख में तो बाल साहित्य भी एक कल्पना ही हो गया है। क्योंकि आजादी के आन्दोलन से जहां से आपने शुरू किया था उसकी तुलना में आज हम कहां पहुंचे हैं, बड़ा स्पष्ट है कि हम नीचे जा रहे हैं, लेकिन फिर भी कल्पना करना, सपना देखना, यह मनुष्य का एक बुनियादी अधिकार है। और हमें हक है कि हम ऐसे समय का सपना देखें जब हर गांव में बच्चों का एक पुस्तकालय होगा, हर मौहल्ले में होगा, और वहां तूलिका की छपी हुई किताब होगी जिसको पढ़ने के लिए बच्चे को 80 रुपये नहीं देना पड़ेगा। पर आज की तारीख में भी ऐसा संभव है। आपको पता ही है कि हमारे देश में आज क्या चीज नहीं है जो खरीदी जा रही है, महंगे से महंगे हवाई जहाज हम ले रहे हैं, महंगे से महंगे हम अस्त्र ले रहे हैं। महंगे से महंगे हम हवाई अड्डे बना रहे हैं । हम अंतर्राष्ट्रीय स्तर के हवाई अड्डे बना रहे हैं। हमारी सामरिक सुरक्षा का स्तर अंतर्राष्ट्रीय है, हमारी अणु शक्ति का स्तर अंतर्राष्ट्रीय है, बाल साहित्य के क्षेत्र में हम क्यों अंतर्राष्ट्रीय प्रतिमान न स्थापित करें। यह हमारा एक तरह का असार्वजनिक रूप से लिया गया निर्णय है जिसको लेकर असार्वजनिकता इसलिए संभव है क्योंकि समाज की चेतना इस ओर गई नहीं है। उसको चिन्ता नहीं है कि बच्चे के साथ क्या हो रहा है, यह मामला सिर्फ साहित्य का नहीं है, जो मैंने आपसे कहा, यह मामला बच्चों के पोषण का भी है, आप मुझे बताइए कि इस समय देश में सुपोषक भोजन कितने बच्चों तक पहुंच रहा है? साफ पानी कितने बच्चों तक पहुंच रहा है? और अगर आप बहुत ही और गहराई में जाएं खिलौना क्या बच्चे का अधिकार नहीं है ? कितने बच्चे हैं जो कि अच्छे खिलौने से खेल पा रहे हैं। ये जो समाज के विभाजन की कुछ बातें या उनकी ओर संकेत आप और मैं दे रहे हैं, वही विभाजक संकेत बाल साहित्य पर लागू होते हैं। और इसलिए बाल साहित्य का अलग से उद्धार करना एक सीमा तक ही संभव है। मैं सोचता हूं कि जरूर कुछ गैर-सरकारी संगठन, कुछ राज्य सरकारें यदि प्रयास करें तो बाल साहित्य के पुस्तकालय अधिक संख्या में स्थापित हो सकते हैं। या कि बाल साहित्य के प्रकाशन के लिए कुछ सार्वजनिक उपक्रम हो सकता है। जैसा कि प्रयास हम लोग यहां परिषद में कर रहे हैं कि हमने बाल साहित्य के लिए विशेष प्रयास किया है। एक नई समिति बनाई गई है, जो आने वाले वर्षों में काफी बड़ी मात्रा में बाल साहित्य लाएगी। कुछ साहित्य हमने पहले प्रकाशित किया था जिसको पहुंचाने में बाधाएं थीं। उनको हम दूर करने की कोशिश कर रहे हैं जिससे कि हमारी जो साहित्यिक पुस्तकें हैं वो बच्चों तक पहुंचें। यह प्रयास तो हमारी परिषद की तरफ से रहेगा लेकिन राज्य स्तर पर जो परिषदें हैं, राज्य स्तर पर जो निगम हैं, पाठ्यपुस्तक निगम हैं उनकी भी जिम्मेदारी बनती है कि वो पाठ्यपुस्तकों के अलावा बाल साहित्य भी प्रकाशित करें और जो नेशनल बुक ट्रस्ट जैसी संस्थाओं ने छापा है, चिल्ड्रन बुक ट्रस्ट जैसी संस्थाओं ने छापा है उसको भी वो बड़ी मात्रा में गांवों

में ले जाएं। ये एक बहुत बड़ी मुहिम है जो कि मुझे उम्मीद है कि आपके इस अंक से थोड़ा आगे बढ़ेगी। और आप इस अंक में ही इसको चलाकर के रुक नहीं जाएंगे, यह भी मुझे आशा है। तभी यह बात आगे बढ़ेगी। क्योंकि एक लम्बी जड़ता का आपने एक प्रश्न उठाया है।

प्रश्न: ये फैसले सामाजिक नहीं हैं, शायद सरकारी हैं क्योंकि सामरिक महत्त्व की चीजें और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के हवाई अड्डे ये सब फैसले समाज नहीं लेता, सरकार लेती है ।

उत्तर: पर समाज उसमें शामिल है। लोकतंत्र की बुनियाद ही यह है कि सरकार वो करती है जिसके लिए समाज की ओर से दबाव होता है, अगर आप इस पूर्व धारणा पर ही टिप्पणी करना चाहें तो बात अलग है। पर ये तो आप मानेंगे कि लोकतंत्र में ऐसा होता है। मतलब मुखर या कि प्रत्यक्ष दबाव न हो, लेकिन समझ का दबाव तो होता ही है कि हां यह सब तो होना ही चाहिए हमारे देश में, कायदे का होना चाहिए।

प्रश्न: अंतिम सवाल ! सामान्यत: हम बच्चों से पूछते हैं कोई कहानी पढ़के या कविता पढ़के-पढ़ाके कि 'इससे हमको क्या शिक्षा मिलती है' तो क्या ये बेहतर नहीं हो कि बच्चों से ही कहें कि कोई कहानी लिखें या कविता लिखें ...

उत्तर: नहीं, देखिए यह सवाल अच्छा सवाल नहीं है। मैं तो यह कहूंगा कि यह नहीं पूछना चाहिए। आपने कोई कहानी सुनाई जैसे मैं हर वृहस्पतिवार को कहानी सुनाता हूं हमारे स्कूल में; तो मुझे बड़ी चिन्ता होती है कि मेरे जाने के बाद क्या होगा? कहीं यह सवाल कोई शिक्षक पूछ तो नहीं लेगा कि आज जो कहानी सुनाई अंकल ने उससे हमें क्या शिक्षा मिलती है? यह सवाल एक बहुत ही मारक सवाल है। क्योंकि कहानी सुनाने का उद्देश्य शिक्षा देना नहीं है। कहानी सुनाने का उद्देश्य तो है भाषा की जड़ों को मजबूत करना, सुनने का धैर्य बनाना, कल्पनाशीलता पैदा करना। कहानी के तर्क जगत के जरिए, आप कह सकते हैं कि कथानक में जो एक तर्क होता है, उसको पुष्ट करना तो वो अपने आप काम करता है। उसके लिए यह सब पूछना जरूरी नहीं है। आपको पूछना ही है, बहुत पूछे बिना आपको चैन नहीं आ रहा है तो आप कहानी के बारे में पूछ सकते हैं कि इस कहानी में क्या हुआ था या फलाने ने ऐसा क्यों किया? या जैसे कि पाठ्यपुस्तकों में सवाल होते हैं। लेकिन बाल साहित्य को अगर हम इससे दूर ही रखें तो ज्यादा संभावना है कि बच्चे केवल आनन्द के लिए उसे पढ़ें क्योंकि बाल साहित्य, साहित्य की तरह ही है उसी का अंग है, आप साहित्य पढ़ना ही छोड़ देंगे या फिल्म देखना ही छोड़ देंगे अगर आपको पता हो कि जैसे ही आप हॉल से बाहर निकलेंगे कोई आपसे पूछेगा कि साहब हीरोइन उस समय कहां की साड़ी पहने हुई थी। या फलाने दृश्य में जो है हीरो ने क्या डायलाग बोला। तो ऐसा ही साहित्य का मामला है, आप क्यों उपन्यास पढ़ेंगे यदि आपको पता हो कि उपन्यास के बाद यह होने जा रहा है, इसी तरह से बाल साहित्य है। मुझे लगता है कि साहित्य पढ़ने के लिए बच्चों को छोड़ देना चाहिए। और इस बारे में उनसे कुछ पूछा नहीं जाना चाहिए।

प्रश्न: हमारी पाठ्यपुस्तकों में मैंने प्राय: ऐसे ही सवाल पढ़े जो सूचनापरक ही थे !

उत्तर: नहीं आप आशा बनाए रखिए। हमारी जो नई पाठ्यपुस्तकें हैं जो कि शुरू होंगी 2006 से आना उसमें आप कुछ नई तरह के प्रश्न पाएंगे।

प्रश्न: हमें उम्मीद है ! शुक्रिया सर ! ◆